समाज एवं शिक्षा का अतः संबंध

डॉ. शेषनाथ यादव
(सहायक आचार्य)

शिक्षा शब्द संस्कृत के शिक्ष धातु में 'अ प्रत्यय लगाने से बना है। जिसका अर्थ है-सीखना एवं सिखाना। मनुष्य जीवनपर्यंत कुछ न कुछ सीखता रहता है। उसके सीखने एवं जानने की प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है, जिसे शिक्षा कहा जाता है। शिक्षा का स्वरूप औपचारिक एवं अनौपचारिक होता है। मनुष्य के जीवन में शिक्षा की शुरुआत अनौपचारिक शिक्षा से होती है। जिसमें माता-पिता, परिवार, मित्र-मण्डली, धर्म एवं समाज का योगदान होता है। यह शिक्षा आजीवन चलती है, किन्तु औपचारिक शिक्षा सीमित समय के लिए होती है। इसका प्रारम्भ विद्यालय से होता है। मनुष्य के जीवन में शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक विकास के लिए औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों प्रकार की शिक्षा आवश्यक है। वस्तुतः देखा जाय तो शिक्षा का स्वरूप व्यापक है. इसमें साहित्य समाज, धर्म, संस्कृति, योग, ज्ञान विज्ञान चिकित्सा, प्रौद्योगिकी, शारीरिक शिक्षा, यज्ञ, कर्मकाण्ड, ज्योतिष एवं नक्षत्र विद्या (खगोल शास्त्र) आदि शामिल हैं।

शिक्षा समाज की बुनियाद है। सभ्य समाज के निर्माण के लिए शिक्षा आवश्यक है। आदम अवस्था से मनुष्य आज तक अपने कार्यों एवं अनुभवों से जो कुछ सीखता आया है. उसे वह अपनी अगली पीढ़ी को हस्तांतरित करता है। उसका यह हस्तांतरण ज्ञान-विज्ञान के कोश को समृद्ध करता है। यही अर्जित एवं संग्रहित ज्ञान-विज्ञान शिक्षा की मूल इकाई है, जिससे किसी समुदाय एवं समाज की संस्कृति की पहचान होती है। शिक्षा को ही संस्कृत भाषा में विद्या के नाम से जाना जाता है। शिक्षा मानव के जीवन को ज्योतिर्यमय एवं पथ प्रदर्शन करती है। शिक्षित मनुष्य परदेश-विदेश कहीं भी चला जाये वह अपने ज्ञान, कौशल एवं विद्या के बलबूते अपने आपको स्थापित कर सकता है। यह अपनी अस्मिता को बनाये रखता है तथा अस्तित्व की मौजूदगी को भी प्रस्तुत करता है। शिक्षा (विद्या) की मूल प्रकृति है- 'अधिगम स्थानान्तरण। इसका लाभ प्रत्येक मनुष्य को मिलता है। वह अपने किसी विशेष विद्या एवं ज्ञान का उपयोग किसी भिन्न क्षेत्रों में कर सकता है, अतएव विद्या मनुष्य के लिए अति आवश्यक है। राजा भर्तृहरि ने नीतिशतकम् मे लिखा है।

'विद्या नाम नरस्य रुपमधिक प्रच्छन्न गुप्तं धनं।
विद्या भोगकारी यश, सुखकारी विद्या गुरूणां गुरुः।।
विद्या बंधुजनो विदेश गमने विद्या पर दैवतं ।
विद्या राजसु पूजिता न तु धनं विद्या विहिनः पशु।'

विद्या मनुष्य के जीवन का गुप्त धन है। गुरु है। यश है। देवता है। विद्या एवं विद्वानों की पूजा सर्वत्र होती है। राजा द्वारा भी विद्या का सम्मान होता है। विद्या का स्वरूप विस्तृत हैं। यह समस्त ज्ञान-विज्ञान की जननी है। चिंतनशीलता, मति, बुद्धि, नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा आदि विद्या के अस्त्र है। राजा भर्तृहरि विद्या की उपदेयता एवं अनिवार्यता दोनों मनुष्य के लिए मानते हैं- उनका मंतव्य है कि साहित्य संगीत एवं कला से अनभिज्ञ मनुष्य पूँछ और सींग से रहित साक्षात् पशु है, जो घास न खाते हुए भी जीवन धारण करता है। ऐसे मनुष्यों की गिनती अधम श्रेणी में होती है।

साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छ विषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परम् पशुनान्।।
- नीतिशतकम्

मनुष्य के जीवन में साहित्य संगीत कला इत्यादि के साथ-साथ उसमें तप (त्याग) संयम् शील (सदाचार) नैतिकता आदि का होना अनिवार्य है। यही तत्व मनुष्य को मृत्युलोक में अन्य प्राणियों से भिन्न करता है। मनुष्य के अलावा अन्य प्राणियों में तर्क एवं चितनशीलता शून्य है। उनकी छुपा ही उनकी संस्कृति है, किन्तु मानव की संस्कृति अहिंसा, परमार्थ, असुपारहित, शिवत्वकारी, समस्त प्राणियों के सरक्षक की है। अतः संवर्धन संस्कृति के सर्धन का संबंध

उसके ज्ञान (विद्या) से है यदि वह विद्या, तप, ज्ञान, शील एवं गुण से रहित हैं तो यह मृग के समान है।

ऐसा न विद्या न तपो न ज्ञानं
न शीतं न गुणो न धर्म ।।
ते मृत्यु लोको भूवि मार भूता,
मनुष्य रूपेन मृगाश्यरति ।।

-नीतिशतकम्

अर्थात विद्या रहित (शिक्षा विहीन) मनुष्य पशु सदृश्य होता है। संस्कृत साहित्य में ऐसे माता-पिता अपने बच्चे के शत्रु है. जो अपने संतान को शिक्षा से वंचित रखते है। शिक्षा विहीन मनुष्य समाज में इस तरह अशोभनीय है जैसे- हंसो के मध्य बगुला। सभ्य समाज के बीच उसकी पहचान खो जाती है समाज में वह मूल्य- रहित आदरविहीन जीवन जीता है।

माता शत्रु पिता वैरी येन बालो न पाठति।
न शोभते सभा मध्ये हस माये बको यथा ।।

माता-पिता का कर्तव्य अपने संतान के प्रति तब तक खत्म नहीं होता, जब तक कि यह प्रशिक्षित होकर स्वावलम्बी नहीं हो जाता है। प्रत्येक माता-पिता का दायित्व है कि वह अपने बच्चों को साहित्य कला व ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा से सुसज्जित करें। उसमें नैतिक गुणों का विकास एवं उसके लक्ष्य की प्राप्ति में सहयोग करें किन्तु ज्यादातर माता-पिता अपने बच्चों का साथ किशोरावस्था के दहलीज पर छोड़ देते है तथा उसे बंधन मुक्त कर देते हैं। जबकि यही अवस्था बच्चों को सम्हालने की होती है। उसकी ऊर्जा को सही दिशा में परिवर्तित करने की होती है। अधिकांश बच्चे इसी अवस्था में दिशा विहीन होकर अपने लक्ष्य से भटक जाते हैं।

भारतीय प्राचीन शिक्षा पद्धति गुरुकुल प्रणाली थी। इसमें उपनयन संस्कार के बाद छात्र गुरु के संरक्षण में रहता था। जहाँ उसे परा-अपरा दोनों प्रकार की विद्याएँ सिखाई जाती थी। परा विद्या में चारों वेद, व्याकरण, गणित, दैव विद्या, नक्षत्र विद्या, ज्योतिष, नृत्य, संगीत, इतिहास, पुराण, निरुक्त, सर्प विद्या आदि प्रचलित थी। अपरा विद्या में यज्ञ, कर्म, आध्यात्मिक ज्ञान दिया जाता था। गुरुकुल की यह शिक्षा प्रणाली वर्णव्यवस्था पर आधारित थी इसमें केवल द्विज जातियों को शिक्षा दी जाती थी। इस शिक्षण पद्धति में आयार-विचार, आहार एवं संयमित जीवन पर बल दिया जाता था।

वर्जयेन्मधुमासं च गन्धं माल्यं रसान्नित्रयः।
सुक्तानि यानि सर्वानि प्राणिना चैव हिरानम्।।
अभ्यऽर्गमन्जाम् चाक्षणोरुपानछत धारणाम्।
काम कोपं च लोभं च नर्तन गीतवादनम्।।

- मनुस्मृति अध्याय-2

शिष्यों के लिए मादक पदार्थ मास्, श्रृंगार सामग्री, सुगए, स्त्री प्रसंग, काम, कोध्र आदि का पूर्ण निषेप था। छात्र का ध्यान पूर्णतः अध्ययन मनन पर केन्द्रित था। आधुनिक काल में गुरुकुल शिक्षा का स्वरूप देश के नवोदय विद्यालय में दिखाई देता है। यह आवासीय विद्यालय है। यहाँ पर ज्यादातर बच्चे सफल होते हैं।

शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है। किसी मनुष्य की पहचान उसके चरित्र से होती है। चरित्रवान व्यक्ति समाज में मर्यादा, लोक नीति, वेदनीति आदि का पालन करता है। उसका आचरण ही उसके व्यक्तित्व को उद्भाषित करता है, जो उसके काय- व्यापार के रूप में परिणति होता है, इसलिए भारतीय शिक्षण में ज्ञानेंद्रिय प्रशिक्षण, नैतिक शिक्षा, अध्यात्मिक चिंतन पर भी दिया जाता है।

वृत्त यत्नेन संरक्षेद् वित्त मेति च याति च।
अक्षीणों कितत: क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हत:।।

- महाभारत (उद्योग पर्व)

अर्थात चरित्र का यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। धन आता-जाता रहता है। धन के नष्ट हो जाने से उसे पुनः अर्जित किया जा सकता है, किन्तु चरित्र के नष्ट हो जाने पर उसे पुनः अर्जित नहीं किया जा सकता है। अतः चरित्र के नष्ट हो जाने से सब कुछ चला जाता है। मनुष्य समाज में अस्तित्व विहीन, मूल्य रहित हो जाता है। यह समाज के लिए प्रेरणास्रोत न होकर अपयश का कारण बनता है, इसलिए विद्या से युक्त, प्रकाण्ड पडित, चतुर्दिक ज्ञानवान्, कोविद्, तत्वविद् व्यक्ति यदि आचरणहीन हो जाय तो वह त्यागने योग्य ही होता है।

दुर्जन: परिहर्तव्यों विद्यायालड़ कृतोऽपि सन्।
मणिना भूषित: सर्प किमसौ न भयंकर:।।

- नीतिशतकम्

आचरण का महत्व भारतीय शिक्षण पद्धति में सर्वोपरि है, शिष्य के लिए जितना आचरण का महत्व है उसके कई गुना ज्यादा गुरु के लिए भी आवश्यक है। गुरु का आचरण ही प्रतिमान है। जिसका शिष्य अनुकरण करता है। अतः शिष्य गुरु के आचरण को आदर्श समझकर धारण करता है और उनके कार्य व्यवहारों को अपने जीवन में उतारने का प्रयास करता है। गुरु भी शिष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास पर ध्यान देता है अगर कहीं कोई कमी परलक्षित होती है तो उसे दूर करने का प्रयास करता है।

'अतीत्य ब्यून बलाम शिष्यानाचार्यमागच्छति शिष्य दोषः। - पंचछत्र 1.21

यदि गुरु अपने कर्तव्यों से विमुख है तो वास्तव में वह आचार्य कहलाने योग्य नहीं है।

''आचार्याऽप्यनाचार्यो भवति श्रुतात्परिहरमाणः''

अपस्तब धर्म सूत्र-11.8.28,

प्रस्तुतः शिक्षण पद्धति में शिक्षक एवं पाठ?य कम के बीच सम्पूरक सम्बन्ध है। शिक्षण पद्धति ही शिक्षम कार्य की नींव है।

प्राचीन काल में शिक्षन के सात सोपान थे, जिसका वर्णन स्मृति चंदिका में मिलता है।

1. सुश्रूषा 2. श्रवणम् 3. गृहणनम्
4. धारणम् 5 उहापोह 6. अर्थज्ञानम्
7. सत्वज्ञानम्।

शिक्षण की यह पद्धति गुरुकुलों में प्रचलित थी। यह कुछ विशेष वर्ण जातियो के लिए सीमित थी। सामान्य आदमी के लिए ज्ञान का स्तम्, सत्संग, संवाद, संगोष्ठी आदि था। साधारण मनुष्य संवाद या सत्संग के माध्यम से मिथक, पुराण, इतिहास से सम्बन्धित जानकारी अर्जित करता था। संवाद से केवल ज्ञान की ही वृद्धि नहीं होती थी बल्कि समाज में संवेदनहीनता, अमानवीयता एवं अनैतिकता का क्षरण होता है। सवाद या सत्संग के प्रभाव से लोगों के बीच ईष्या, द्वेष असूया, अपस्मार एवं अविहत्था जैसी दुर्भावना एवं मानसिक विकार का शमन हो जाता है। इसके अलावा लोग साहित्य, समाज, सत्कृति इतिहास आदि से रूबरू भी होते थे। यह अनौपचारिक शिक्षा उनके जीवन को एक निश्चित आकार देती थी और यही से मानवता सौहार्द, अपरिग्रह, आध्यात्मिक चिंतन, परा-अपरा शिक्षा का ज्ञान एवं मानवीय मूल्यों का संवर्धन और संरक्षण होता है।

जायधियो हरति सिंचति वावि सत्यन
मानोन्नतिं दिशति पापमया करोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तमोति कीर्ति
सत्संगति कथय किं न करोति पुंसाम् ॥

- नीतिशतकम्

सत्संगति, संवाद एवं संगोष्ठी आदि ज्ञान के प्रचार-प्रसार का साधन हैं। जगत में कुछ ऐसे भी विद्वान हुए है जिन्होने औपचारिक शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाये, किन्तु सत्संगति में रहकर कीर्तिमान स्थापित किए। ऐसे विद्वानों में 'कबीर दास का नाम इतिहास के पन्नों पर स्वर्ण अक्षरों में दर्ज हैं। वास्तव में शिक्षा की ज्योति का प्रकाश सूर्य से भी तेज हैं। शिक्षा एवं ज्ञान की परिधि असीमित है, इसलिए कोविद्, सुधीजन, साहित्य मर्मज्ञ, तत्त्वविद् एवं आचार्यों की पूजा समस्त ब्राह्माण्ड में होती है। नरेश, धनाधिपति, कुबेर की पूजा केवल अपने देश में की जाती है-

विद्वत्वं च नृपत्वं च न तुल्ये कदाचन्।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥

अतः शिक्षा मनुष्य के लिए उतना जरूरी है जितना जीवन के लिए ऑक्सीजन। धन-दौलत, रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद एवं ऐश्वर्य की वस्तुओं का संचयन एवं संरक्षण मनुष्य तभी कर सकता है, जब उसके पास कौशल एवं विवेक हो, इसलिए मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करने का उघोग करना चाहिए। उसे ज्ञान पिपासु होना चाहिए न कि धनपिपासु। इतना ही नही ज्ञान एवं विद्या से ही धर्म, समाज एवं संस्कृति की रक्षा होती है। स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए शिक्षा का योगदान सर्वोपरि है। सामाजिक कुरीतियाँ आडम्बर, कुप्रथाएँ, अपृश्यता एवं वर्ण व्यवस्था रूपी समाज के कोढ़ को शिक्षा (विद्या) द्वारा ही खत्म किया जा सकता है। समाज की मौलिक संरचना में परिवर्तन हेतु शिक्षा का उन्नयन जरूरी है। शिक्षा किसी देश की संस्कृति, सभ्यता एवं समाज का प्रतिबिम्ब है। समाज में चिंतन, तर्कशीलता एवं सर्वांगीण विकास हेतु शिक्षा का होना आवश्यक है। यदि आदर्श समाज एवं राज्य की कल्पना को साकार करना है, तो शिक्षा की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। अतः यह कहा जा सकता है शिक्षा समाज की जननी है। ***